वेदोंमें शिक्षाप्रद आख्यान

[वेदोंमें यत्र-तत्र कुछ आख्यान प्राप्त होते हैं, जो भारतकी सांस्कृतिक धरोहरके रूपमें हमारी अमूल्य निधि हैं। इनमें मानव-जीवनको ऊँचा उठानेवाली अनेक सारगर्भित सरल तथा विचित्र कथाएँ भरी पड़ी हैं। वैदिक मन्त्रों, ब्राह्मणों, आरण्यकों एवं उपनिषदोंमें हमारे ऋषियोंने ऋचाओं, सूत्रों, सूक्तियों तथा कथाओंके माध्यमसे ऐसे मानदण्ड निर्धारित किये, जिनका आधार प्राप्त कर भारतीय संस्कृति विकसित हुई।

वेदों, शास्त्रों एवं उपनिषदोंकी ये कथाएँ केवल कथाएँ ही नहीं हैं जो मनोरञ्जन करती हों, इनमें एक ऐसी दृष्टि है जो हमें जीवन-दर्शनका ज्ञान कराती है, भले-बुरेका विवेक देती है। जीवनकी अनेक ऊहापोहकी विकट परिस्थितियोंमें जब हम किंकर्तव्यविमूढ हो जाते हैं, हमारी विवेकशक्ति भ्रमित हो जाती है, तब ये कथाएँ हमारा मार्गदर्शन करती हैं, सही निर्णय लेनेकी शक्ति प्रदान करती हैं, साथ ही सत्कार्य करने तथा सन्मार्गपर चलनेकी प्रेरणा देती हैं।

इन कथाओंमें देवों, दानवों, ऋषियों, मुनियों तथा राजाओंकी ही नहीं, प्रत्युत समस्त जड़-चेतन, पशु-पक्षी, नदी-पर्वत तथा समुद्र आदिसे सम्बन्धित कथाएँ हैं, जो हमें कर्तव्याकर्तव्यका बोध कराती हुई सुखद जीवन जीनेकी प्रेरणा प्रदान करती हैं। अतः वेदोंके कुछ शिक्षाप्रद आख्यान पाठकोंके लाभार्थ यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं।—सम्पादक]

वेद-कथामृत-कुञ्ज

(डॉ० श्रीहृदयरंजनजी शर्मा)

अपौरुषेयरूप वेदोंमें ऋग्वेदकी महत्ता, प्रामाणिकता तथा प्रधानताको विशेषरूपसे मान्यता प्रदान की गयी है। ईश्वरके निःश्वाससे प्रकाशित चारों वेदोंके क्रममें भी ऋग्वेदकी प्रथम आविर्भावरूप श्रुति प्राप्त होती है। यथा—

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥

(ऋक्० १०। ९०। ९)

अर्थात् (साध्यदेवोंने सृष्टिके आरम्भमें जो मानसिक दिव्य यज्ञ सम्पन्न किया) उस सर्वहोमरूप यज्ञसे ऋचाएँ एवं सोम उत्पन्न हुए। उस यज्ञसे गायत्री आदि छन्द उत्पन्न हुए तथा उससे यजुर्मन्त्र उत्पन्न हुए।

वैदिक वाङ्मयके ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् आदि ग्रन्थोंमें किसी बातकी महत्ता एवं प्रामाणिकताकी पुष्टिके लिये **'तदेतद् ऋचाभ्युक्तम्'** अर्थात् 'यह बात ऋक्-मन्त्रके द्वारा निरूपित होनके कारण मान्य है' ऐसा विशेषरूपसे कहा गया है। सायणाचार्य आदि प्रामाणिक आचार्योंने भी ऋग्वेदके प्राथम्यको सर्वत्र स्वीकार किया है। केवल श्रौत आदि यज्ञोंके प्रयोग (अनुष्ठान)-कालमें पूर्वापर-व्यवस्थाके निर्धारण-हेतु यजुर्वेदका प्राथम्य निदर्शित हुआ है।

इस प्रकारके सर्वातिशायी ऋग्वेदमें अनेक महत्त्वपूर्ण शिक्षाप्रद आख्यान एवं कथा-प्रसंगोंका वर्णन प्राप्त होता है। इन आख्यान-प्रसंगोंके माध्यमसे ईश्वरकी बात **'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः'** अर्थात् अप्रतिहत दिव्य-शक्तिका तथा वेदोक्त धर्म-रूप कर्मकी महत्ताका तात्पर्यरूप प्रतिपादन अधिगत होता है इस कथामृतरूप सरोवरके कतिपय पुष्पराग यहाँ निम्नलिखितरूपसे अभिव्यञ्जित हुए हैं—

१-नाभानेदिष्ठ-आख्यान

संदर्भ—

यह आख्यान ऋग्वेद-संहिताके दशम मण्डलके अन्तर्गत ६१ वें एवं ६२वें—इन दो सूक्तोंमें वर्णित हुआ है। इसके माध्यमसे यह बतलानेका प्रयास हुआ है कि इस सृष्टिमें चेतन-अचेतनरूप जितने भी पदार्थ हैं, उनके स्वामित्व एवं उपभोगका सम्बन्ध तथा कार्य-क्षेत्रका विस्तार केवल मनुष्यतक ही सीमित नहीं है, अपितु सूक्ष्मरूपसे तत्तद् देवता भी उसके स्वामी एवं अधिकारी हैं। अतः उनकी आज्ञा लेकर ही इन पदार्थोंका ग्रहण एवं उपभोग करनेपर हानिरहित परिपूर्णताकी प्राप्ति होती है।

आख्यान—

नाभानेदिष्ठ मनुके पुत्र थे। वे ब्रह्मचर्य-आश्रमके अन्तर्गत विधीयमान संस्कारोंसे युक्त होकर अपने गुरुके

समीप वेदाध्ययनमें रत रहते। जब पिताकी सम्पत्तिके बँटवारेका समय आया तो नाभानेदिष्ठके अन्य भाइयोंने आपसमें सारी सम्पत्तिका भाग बाँट लिया और उन्हें कुछ भी नहीं दिया। जब उन्हें इस बातका पता लगा तो उन्होंने अपने पिता मनुके पास जाकर पूछा कि क्या आपने मेरे लिये अपनी सम्पत्तिका कोई भी भाग स्वीकृत नहीं किया है? उसके उत्तरमें मनुने उनसे कहा कि यदि पैतृक सम्पत्तिमेंसे तुम्हें भाग नहीं मिला तो कोई बात नहीं, तुम उससे बड़ी एवं उत्कृष्ट सम्पत्तिको पानेके अधिकारी हो। इस उत्तम सम्पत्तिको प्राप्त करनेका उपाय बतलाते हुए उन्होंने उनसे कहा कि आङ्गिरस ऋषिगण स्वर्गफलकी कामनासे सत्रयाग (बारह दिनसे अधिक चलनेवाला सोम-याग)-का संकल्प लेकर आरम्भके छः दिनका अनुष्ठान पूरा कर चुके हैं। इसके आगे अविशिष्ट दिनोंके विधि-सम्मत अनुष्ठानको सम्पन्न करनेमें वे दिग्भ्रमित एवं मोहित हो रहे हैं। तुम उन ऋषिगणोंके पास जाओ और उनके सत्र-यागको पूर्ण करनेमें सहायक बनो— **'इदमित्था रौद्रं गूर्तवचा ब्रह्म क्रत्वा शच्यामन्तराजौ। क्राणा यदस्य पितरा मंहनेष्ठाः पर्षत् पक्थे अहन्ना सप्त होतॄन्'**—इस मन्त्रसे प्रारम्भ कर अड़तीस मन्त्रयुक्त दो सूक्तों (ऋक्० १०। ६१-६२)-का पाठ वहाँ शस्त्ररूपमें करो। (श्रौत यागोंमें होता नामक ऋत्विक्द्वारा यज्ञसे सम्बन्धित देवताओंकी दिव्य स्तुतिरूप शंसना (प्रशंसा)-को 'शस्त्र' के नामसे अभिहित किया जाता है।) श्रीमनुने आगे कहा कि इस शस्त्र-पाठके बदलेमें वे ऋषिगण तुम्हें एक हजार गायोंसे युक्त उत्तम सम्पत्तिको प्रदान करेंगे।

अपने पिताकी प्रेरणासे उत्साहित नाभानेदिष्ठ आङ्गिरसोंके पास गये और उनकी यथाविधि सहायता की। वे आङ्गिरस इन (ऋक्० १०। ६१-६२) दो सूक्तोंके दिव्य सामर्थ्यसे यज्ञकी पूर्णताको प्राप्त किये और स्वर्ग जानेकी सफलतासे युक्त होकर उन्हें सहस्र गोरूप-सम्पत्ति प्रदान की।

इस सम्पत्तिको लेनेके लिये नाभानेदिष्ठ जब तत्पर हुए तो उसी समय एक कृष्णवर्णका अत्यन्त बलशाली पुरुष यज्ञस्थलके उत्तर तरफसे उत्पन्न हुआ और उनसे बोला कि 'यज्ञके समस्त अवशिष्ट भागका अधिकारी मैं हूँ। अतः इन गायोंको तुम स्वीकार न करो।' इसपर नाभानेदिष्ठने यह कहा कि 'आङ्गिरसोंने ये गायें मुझे प्रदान की हैं।' यह सुनकर उस कृष्ण-पुरुषने नाभानेदिष्ठसे कहा कि 'हे ब्रह्मवेत्ता! तुम अपने पिता श्रीमनुसे ही इसका समाधान पूछो कि यह भाग किसे मिलना चाहिये?'

इस समस्याके समाधान-हेतु नाभानेदिष्ठ अपने पिताके पास आये और उनसे न्याय-सम्मत निर्णय देनेका निवेदन किया। इसके उत्तरमें श्रीमनुने कहा कि न्यायतः यज्ञके शेष-भागपर उस कृष्ण-पुरुष (रुद्र)-का ही अधिकार बनता है। इस न्याययुक्त समाधानको नाभानेदिष्ठने सहजरूपसे स्वीकार किया और पुनः यज्ञस्थलपर जाकर उस कृष्ण-पुरुषसे निवेदन किया कि इस यज्ञभागपर आपका ही अधिकार बनता है। उनके इस सहज-भाग एवं सत्यनिष्ठाको देखकर कृष्ण-पुरुष-रूप रुद्रदेव अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने वह समस्त गो-सम्पत्ति उन्हें आशीर्वादके साथ प्रदान कर दी।

(यहाँ यह विशेषरूपसे ध्यातव्य है कि कृष्ण-वर्णके रूपमें उपस्थित रुद्रदेव ही वस्तुतः वास्तु-देवता (वास्तुपुरुष) हैं। ये वास्तु-विज्ञानके मूल आधार हैं। विद्वान् पाठकोंकी जिज्ञासा-शान्ति-हेतु इनके मौलिक-स्वरूप एवं शान्ति-प्रक्रियाके संकेतको द्वितीय कथामृतके रूपमें यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—)

२-वास्तुपुरुष-आख्यान

संदर्भ—

वेदोंमें वास्तुपुरुषके सम्बन्धमें अनेक स्थलोंपर सारगर्भित विवेचन उपलब्ध होता है। इसके अनुसार वे इस पृथिवीके समस्त-भू-भागके अभिमानी (अधिकारी) देवता हैं। वे अत्यन्त शक्तिशाली एवं तेजस्वी देव हैं। प्राकृतिक एवं मानवीय समस्त रचनाओंमें उनका उग्र तेज प्रभावी रहता है। उनके इस उग्र तेजको शान्त करके जब किसी वस्तुका उपयोग तथा उपभोग किया जाता है तो वह सबके लिये लाभकारी एवं कल्याणकारी सिद्ध होता है। इस प्रक्रियाके अभावमें किसी वस्तुका उपयोग छोटेसे बड़े स्तरतककी हानिका कारण बन सकता है। भवन-निर्माण, उसमें रहने तथा उसके लाभकारी होनेके संदर्भमें इसका विचार इसलिये और आवश्यक हो जाता है, क्योंकि मनुष्यके प्रकाशित एवं अप्रकाशित (ज्ञात-अज्ञात) समस्त जीवनवृत्तों (प्रतिदिनके क्रिया-कलापों)-का यह भवन साक्षी तथा आश्रय-स्थल बनता है। किसी भी भवनका अन्तः एवं बाह्य रूप, आकार एवं प्रकार व्यक्तित्वके विकास तथा

सुख-समृद्धि-हेतु अत्यन्त प्रभावकारी माना गया है। वेदोंमें इस रहस्यमय कड़ीको सुलझाने एवं अनुकूल बनानेकी महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक प्रक्रिया आज भी सुरक्षित है।

आख्यान—

सृष्टि-प्रक्रियाके सतत क्रममें परमेश्वर अपने लीला-जगत्के विस्तारको सस्नेह दिशा प्रदान करते हैं। इसमें सर्वप्रथम आधिदैविक सत्ता-क्रममें पृथिवीके भू-भागपर उषःकालकी लालिमामय पवित्र-आस्थाकी उत्तम वेलामें भूमिके अधिपति वास्तोष्पति (वास्तुपुरुष)-का आविर्भाव होता है।

उपर्युक्त ईश्वरीय संदेशको ऋग्वेदकी यह ऋचा निदर्शित कर रही है—

पिता यत् स्वां दुहितरमधिष्कन् क्ष्मया रेतः संजग्मानो नि षिञ्चत्।
स्वाध्योऽजनयन् ब्रह्म देवा वास्तोष्पतिं व्रतपां निरतक्षन्॥

(ऋक्० १०।६१।७)

वस्तुतः ईश्वरकी सृष्टि-प्रक्रियाका दिव्य स्वरूप ही यज्ञ-प्रक्रिया है। इस संसारमें स्थूलरूपसे जो भी सृष्टि-क्रम घटित होता है, वह आधिदैविक स्तरपर पहले ही पूर्णतया संकल्पित तथा घटित हो जाता है। जैसे कोई मूर्तिकार या कोई अन्य कलाकार अपनी स्थूल रचनाको, मानसिक स्तरपर सूक्ष्मरूपसे बहुत पहले ही एक आकार प्रदान करनेमें समर्थ होता है, वैसे ही आधिभौतिक सत्तासे पहले आधिदैविक सत्तापर प्रत्येक सृष्टिक्रम घटित होता है। अतः वास्तुपुरुषकी सत्ता एवं प्रतिष्ठाकी प्रक्रियाका शुभारम्भ यहींसे (आधिदैविक स्तरसे) ही शुरू हो जाता है। यथा—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥

(ऋक्० १०।९०।१६)

अर्थात् देवताओंने आधिदैविक स्तपर मानसिक संकल्पके द्वारा सृष्टि-प्रक्रियाके सूक्ष्म स्वरूपको सम्पन्न किया। इस मानसिक यज्ञ-प्रक्रियाको सम्पन्न करनेके लिये जो उपाय 'इतिकर्तव्यता' (दोषरहित क्रियात्मक तकनीक या तरीका)-के साथ अपनाये गये, वही स्थूल सृष्टि-प्रक्रियाके मुख्य धर्म (आचरण-योग्य कर्तव्य) स्वीकृत हुए। इस दोषरहित प्रक्रियाका अन्वेषण तथा निर्धारण करके महान् देवगण द्यावापृथिवी (द्युलोक-सूर्य तथा पृथिवी)-की सीमाके ऊर्ध्वभागमें स्थित अमृतमय नाक (स्वर्गलोक)-को प्राप्त हुए। स्वर्गलोकका एक नाम 'नाक' भी है, क्योंकि **'नास्ति अकं दुःखं यत्र'** अर्थात् जहाँ किसी प्रकारका दुःख न हो वह नाक—स्वर्ग है। इस अमृतमय दिव्य स्थानमें सूर्य, चन्द्र, इन्द्र आदि अनेक कल्पोंके साध्यदेव महात्मा सदा निवास करते हैं।

उपर्युक्त आधिदैविक यज्ञ-प्रक्रियाके दोषरहित अन्वेषण एवं निर्धारणका तात्पर्य यज्ञादि कार्योंमें उस 'वास्तुपुरुष'की सत्ताको पहचानना तथा उसकी उग्रताको शान्त करनेकी वैज्ञानिक प्रक्रियाको संनिहित करना है। इस मूल कड़ीका समाधान निम्नलिखित आख्यान-चर्चा (शतपथ ब्राह्मण १।६।१।१—२०)-के माध्यमसे और अधिक स्पष्ट होता है। यथा—

आधिदैविक यज्ञ-प्रक्रियाके माध्यमसे देवगण अपने अभीष्ट स्वर्गलोकको प्राप्त किये और पशुओं (सांसारिक-बन्धनोंसे आबद्ध जीवों)-का अधिपति देवता यहीं रह गया अर्थात् यज्ञरूपी वास्तु (भूमि)-पर वास करनेके कारण वह रुद्ररूप देव द्युलोकके स्वर्ग-फलसे वञ्चित रह गया। इस प्रकार वास्तु अर्थात् भूमिपर रहनेके कारण वह 'वास्तव्य' कहलाया। इसके बाद जिस यज्ञ-प्रक्रियाके माध्यमसे देवगण स्वर्ग-फलको प्राप्त किये, उसी यज्ञ-प्रक्रियाको उन्होंने पुनः सम्पन्न किया; परंतु अत्यन्त परिश्रम करनेपर भी वे इस बार यज्ञ-फलको प्राप्त नहीं कर सके, क्योंकि वास्तु (भूमि)-के अधिपति देवने जब यह देखा कि देवगण उसे छोड़कर यज्ञ कर रहे हैं तो उसने यज्ञ-भूमि (वेदि)-के उत्तर भागसे सहसा उत्क्रमण (बाहर निकल) कर उस यज्ञ-प्रक्रियासे स्वयंको अलग कर लिया। यज्ञ-प्रक्रियाके अन्तर्गत 'स्विष्टकृत्' आहुति प्रदान करनेका यह महत्त्वपूर्ण समय था। 'स्विष्टकृत्' आहुतिका मतलब है, वह आहुति जिसको देनेसे यज्ञमें दी गयी समस्त आहुतियाँ अच्छी प्रकारसे इस याग-प्रक्रियाद्वारा देवताओंके भक्षणयोग्य बन जाती हैं, अर्थात् रुद्रदेवद्वारा स्वीकृत होती हैं। यज्ञमें 'स्विष्टकृत' आहुतिका विधान जबतक दोषरहित रूपसे सम्पन्न नहीं होता, तबतक यज्ञमें दी गयी समस्त आहुतियाँ देवताओंको प्राप्त नहीं होतीं और जबतक देवताओंको आहुतियाँ प्राप्त नहीं होतीं, तबतक यज्ञ अपूर्ण तथा फलरहित ही रहता है।

देवताओंने यज्ञकी इस बाधाके विषयमें जब सूक्ष्मतासे विचार किया तो उन्होंने देखा कि 'स्विष्टकृत्' आहुतिका अधिपति 'अग्निदेव' अपने यज्ञ-स्थानपर उपस्थित नहीं है। यह 'स्विष्टकृत्' विशेषणसे युक्त अग्निदेव सामान्यतया वर्णित वैदिक 'अग्नि' देवतासे सर्वथा भिन्न है और यहाँ वास्तुदेवताके विशेष स्वरूपको प्रकाशित करता है। इसे भव, शर्व, पशुपति तथा रुद्र आदि नामोंसे भी जाना जाता है, परंतु इसका (वास्तुपुरुषका) अग्निमय स्वरूप शान्ततम माना गया है। अत: देवगणोंने इस 'स्विष्टकृत्' आहुतिके अभिमानी वास्तुदेवसे प्रार्थना की कि वह उनके यज्ञसे अलग न हो। इसपर वास्तुदेवने कहा कि यज्ञकी पूर्णता एवं फलप्रदान-सामर्थ्य-हेतु देवताओंको दी जानेवाली प्रत्येक आहुतिमें वास्तुदेवके अंशकी स्वीकृतिका विधान आवश्यकरूपसे किया जाय तथा सभी आहुतियोंके अन्तमें एवं पूर्णाहुतिके पूर्व 'स्विष्टकृत्' आहुति भी दी जाय, तभी यज्ञकी सफलता निश्चित होगी। आप सभी देवगण वास्तुदेवताके लिये अनिवार्यरूपसे देय इस अंशकी स्वीकृतिके बिना ही उपर्युक्त यज्ञ कर रहे हैं, जिससे यज्ञ सफल नहीं हो पा रहा है। देवगणोंने भी यज्ञ-प्रक्रियाके इस सूक्ष्म किंतु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंशके दोषको पहचान कर इसे दूर किया तथा वास्तुदेवताके अस्तित्वको स्वीकार कर प्रत्येक आहुतिके साथ उनकी सहभागिता सम्पन्न की और अपने उद्देश्यमें सफल हुए।

लोकमें व्यवहृत वास्तु-विज्ञानके संदर्भमें वैदिक यज्ञ-प्रक्रियाके इस सूक्ष्म स्वरूपको कुछ युगानुरूप परिवर्तनके साथ निरूपित किया जाता है। इसके अन्तर्गत भवन-निर्माणकी अन्त: एवं बाह्य संरचनाको कुछ इस प्रकारसे दिशा प्रदान की जाती है, जिससे वास्तुपुरुषका वह रुद्ररूप—उग्र तेज परिवर्तित होकर 'अग्नि' रूप शान्ततम भावके साथ सदा सुख-शान्ति तथा समृद्धिकी प्रतिष्ठा प्रदान करता रहे। एतावता वास्तु-विज्ञानका मूल उद्देश्य अग्निरूप वास्तुपुरुषकी यज्ञ, गृह आदि स्थानोंपर अन्त:-बाह्यरूप प्रतिष्ठा ही है।

३-ऋषिभाव-प्राप्ति-आख्यान

संदर्भ—

वेदोंमें ऋषिभावको सर्वोत्तम भावके रूपमें निदर्शित किया गया है। कहा भी गया है—'**ऋषयो मन्त्रद्रष्टार:**' अर्थात् ऋषि वे हैं जो वैदिक मन्त्रवाक्योंका साक्षात् दर्शन करते हैं। निरुक्त-शास्त्रमें भी ऋषि शब्दका निर्वचन करते हुए कहा गया है—'**ऋषिर्दर्शनात्**' अर्थात् ऋषि वह है जो अतीत, अनागत तथा वर्तमानकालको एक ही समयमें समग्ररूपसे देख सके। इस स्थितिको 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' के रूपमें भी निरूपित किया जाता है। 'ऋत' का अर्थ है सार्वकालिक सत्य और इस सार्वकालिक सत्यसे परिपूरित प्रज्ञा-विशिष्ट ज्ञान-शक्ति जब समग्रभावसे जगत्को देखने तथा समझनेमें समर्थ हो जाती है तो वह ऋषिभावकी प्रतिष्ठाके साथ व्यवहृत होती है। वेदोंमें यह ऋषिभाव सबसे बड़े सम्मानके रूपमें समादृत हुआ है। इसे निम्नलिखित कथा (ऋक्० ५।६१।१—१९)-के माध्यमसे देखा जा सकता है—

आख्यान—

किसी समय अत्रिवंशज दार्भ्य ऋषि अपने पुत्रके साथ रथवीति नामक राजाके यहाँ यज्ञ सम्पन्न कराने गये। यज्ञानुष्ठानके क्रममें उन्होंने राजाकी सुशील एवं गुणवती पुत्रीको देखा। उसे देखकर ऋषिने विचार किया कि यह उनकी पुत्रवधू होने योग्य है। अत: यज्ञ समाप्त होनेपर उन्होंने राजासे अपने मनकी इच्छा व्यक्त की। राजाने उनके इस प्रस्तावपर अपनी पत्नीके साथ विचार-विमर्श किया। इसपर राजाकी पत्नीने निवेदन किया कि अबतक हमारे वंशकी कन्याएँ 'ऋषिभाव'-प्राप्त महापुरुषोंको ही प्रदान की गयी हैं। अत: यह ऋषिपुत्र उस परम भावको यदि प्राप्त कर ले तो उन्हें इसमें आपत्ति न होगी। इस युक्तियुक्त समाधानको सुनकर ऋषिपुत्र श्यावाश्व दृढ़ संकल्पके साथ घोर तपस्या तथा सत्यनिष्ठ आचरण सम्पन्न करनेमें मन, वाणी तथा कर्मकी समरसताके साथ प्रवृत्त हुए। उनके इस परम भावसे प्रसन्न होकर यथासमय मरुद्गणोंने उन्हें 'ऋषिभाव'-प्राप्तिका आशीर्वाद प्रदान किया। ऋषिभावके प्रभावसे श्यावाश्वका मुखमण्डल शोभायमान हो उठा। वे अपने पिताके पास वापस आये, इसके पहले ही उनकी यश:कीर्ति सर्वत्र पहुँच चुकी थी। राजा रथवीतिने भी सपरिवार 'ऋषि'-सम्बोधनके साथ उनका सम्मान किया और उन्हें गृहस्थ-धर्ममें प्रवेश-हेतु सविधि अपनी सुयोग्य कन्या प्रदान की। ऋषि श्यावाश्व भी कालक्रमकी मर्यादाके साथ अन्तत: परम पुरुषार्थको प्राप्त हुए।